

प्रयोगशाला निर्मित मांस

डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान जब हिटलर ने डींग मारी कि अगले तीन हफ्तों में ब्रिटेन की गर्दन मुर्गे की तरह मरोड़ दी जाएगी, तो विंस्टन चर्चिल ने हिकारत से कहा था, 'कौन मुर्गा, किसकी गर्दन।' आने वाले दिनों में ब्रिटेन और मित्र देश विजयी हुए थे।

चर्चिल ने 1930 के दशक में मुर्गा-आधारित एक और टिप्पणी की थी जो आज ज़्यादा मौजूद लगती है: "50 साल के अंदर मुर्गे की टांग या रान खाने के लिए हमें पूरा मुर्गा पालने की ज़रूरत नहीं उठानी होगी क्योंकि हम एक अलग माध्यम में इन अंगों को अलग-अलग तैयार कर सकेंगे।"

हो सकता है कि चर्चिल की यह भविष्यवाणी शायद एक-दो वर्षों में हकीकत बन जाए। शोधकर्ता कोशिका व ऊतक इंजीनियरिंग की तकनीकों की मदद से प्रयोगशाला में (यानी *इन विट्रो*) खाद्य मांस बनाने की कोशिश कर रहे हैं। तब शाकाहारी या मांसाहारी या वेगन्स (जो दूध तक को नहीं छूते) नहीं होंगे बल्कि सिर्फ इनविट्रोहारी होंगे।

आखिर किसी को प्रयोगशाला में मांस बनाने की ज़रूरत क्या है? इसकी ज़रूरत इसलिए है कि हम फसलें उगाकर पशुओं को खिलाना चाहते हैं, जिसके लिए कुल उपलब्ध कृषि भूमि का 26 प्रतिशत हिस्सा लगेगा और भारी मात्रा में पानी लगेगा। एक और तथ्य यह है कि पालतू पशु ग्लोबल वार्मिंग में 18 प्रतिशत का योगदान देते हैं।

इसके अलावा, यदि चर्चिल की बात को थोड़े अलग ढंग से रखें, तो पशु दरअसल प्रोटीन उत्पादन के कार्यकुशल कारखाने नहीं हैं। हम जो मांस खाते हैं, वह अधिकांशतः प्रोटीन ही होता है। तो यह विचार बुरा नहीं है कि मांस का उत्पादन प्रयोगशाला में किया जाए और ज़मीन, पानी की बचत की जाए और ग्लोबल वार्मिंग की रोकथाम की जाए।

यहीं स्टेम कोशिका का प्रवेश होता है। जैसा कि नेचर के 9 दिसंबर 2010 के अंक में निकोल जोन्स लिखते हैं, भ्रूणीय स्टेम कोशिकाएं एक अमर स्टॉक प्रदान करेंगी

जिससे आप सतत मांस उत्पादन कर सकेंगे। मगर पालतू पशुओं से भ्रूणीय स्टेम कोशिकाएं प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल पाई है। लिहाज़ा, वैज्ञानिकों ने वयस्क स्टेम कोशिकाओं का रुख किया है। इन्हें मायोसेटेलाइट कोशिकाएं कहते हैं; ये मांसपेशियों के विकास व मरम्मत का काम करती हैं।

तीन अनुसंधान समूह इन मायोसेटेलाइट कोशिकाओं की मदद से प्रयोगशाला में मांस तैयार करने की कोशिश में लगे हुए हैं। इसे *इन विट्रो* मांस या आईवीएम भी कहते हैं। ऐसे दो समूह हॉलैण्ड में और एक यू.एस. में है। इन्होंने इस तकनीक पर पेटेंट भी हासिल कर लिए हैं। इनमें एक डॉ. केदारनाथ चल्लाकेरे हैं जिनकी कंपनी मोक्षगुंडम बायोटेक्नॉलॉजीस कैलिफोर्निया में है। मोक्षगुंडम मशहूर हुआ था सर विश्वेश्वरैया के कारण; वे यहीं के थे।

तो यह तकनीक काम कैसे करती है? सबसे पहले आप, उदाहरण के लिए, सुअर का थोड़ा-सा ऊतक बायोप्सी के ज़रिए प्राप्त करते हैं। इसमें से मायोसेटेलाइट कोशिकाएं अलग करते हैं, और फिर प्रयोगशाला में संवर्धन के ज़रिए इनका बहुगुणन करते हैं। संवर्धन के लिए उपयुक्त माध्यम की ज़रूरत होती है। इसके बाद इन कोशिकाओं को एक सांचे पर बढ़ने देते हैं जहां वे आपस में जुड़कर मांसपेशियां यानी मसल्स बना लेती हैं। अगला कदम यह होता है कि प्रोटीन की मात्रा बढ़ाने के लिए मांसपेशियों को 'कसरत' कराई जाती है। अंत में इन मांसपेशियों का कीमा बनाकर उसमें गंध, विटामिन्स तथा लौह मिलाकर सॉसेजेस बना लिए जाते हैं। इन सॉसेजेस को पकाकर खा सकते हैं।

अभी इस मामले में कुछ और चीज़ों को मुकम्मल करना बाकी है। जैसे एक मुद्दा इन मायोसेटेलाइट कोशिकाओं के स्रोत का है।

चूंकि भ्रूणीय स्टेम कोशिकाएं आदर्श शुरुआती बिंदु है, इसलिए मुर्गा, तीतर, भेड़, मवेशियों, वगैरह से इस तरह

की कोशिकाएं हासिल करने के प्रयास जारी रहेंगे। दूसरा मुद्दा है कि वयस्क स्टेम कोशिकाएं करीब 30 विभाजन के बाद विभाजित नहीं होतीं। उनके गुणसूत्रों में डीएनए के सिरो पर स्थित सुरक्षात्मक छोर (टीलोमीयर्स) हर विभाजन के बाद छोटे होते जाते हैं और कुछ विभाजनों के बाद पूरी तरह लुप्त हो जाते हैं। इसके बाद कोशिका विभाजन नहीं होता। शायद संवर्धन माध्यम में टीलोमरेज़ एंज़ाइम डालने से मदद मिले। और आदर्श स्थिति तो यही होगी कि संवर्धन माध्यम जंतु से स्वतंत्र हो। कुछ शोधकर्ताओं ने इसके लिए कुछ कुकुरमुत्तों का इस्तेमाल किया है जबकि अन्य समूहों ने नील-हरित शैवाल को टीलोमरेज़ का स्रोत बनाया है। गौरतलब है कि ये दोनों वेगन हैं। मगर इनके उपयोग के साथ पैसे और सामग्री के बड़े-बड़े मुद्दे जुड़े हुए हैं। कोशिका संवर्धन माध्यम बहुत महंगा होता है और ऐसे मांस की कीमत में 90 प्रतिशत लागत तो इसी की होती है। दूसरा बड़ा मुद्दा है मांसपेशी के तंतुओं को बांधने के लिए मायोफाइबर्स जोड़ना। इस काम में बहुत ऊर्जा लगती है। तीसरा मुद्दा यह है कि जैसे-जैसे मांसपेशियों की पट्टियां बड़ी होने लगती हैं, वैसे-वैसे अंदरूनी भाग की कोशिकाएं मरने लगती हैं क्योंकि उन्हें पोषण प्राप्त नहीं हो पाता।

वास्तविक जीव में तो इन कोशिकाओं को पोषण रक्त प्रवाह के माध्यम से मिलता है। तो आपको इन *विट्रो* परिस्थिति में रक्त नलियां निर्मित करनी होंगी। इन सब चीजों का हिसाब लगाएं, तो लगता है कि प्रयोगशाला मांस की पहली खेप की लागत 3500 यूरो प्रति टन होगी जबकि फिलहाल सामान्य मुर्ग का मांस 1800 यूरो प्रति टन के भाव मिलता है। मगर ध्यान देने की बात यह है कि पहला मोबाइल फोन बनाने में लाखों यूरो लगे थे और आज एक ठीक-ठाक मोबाइल फोन 30 यूरो में मिल जाता है। एक बार विज्ञान ठीक तरह से काम करने लगे तो बड़े पैमाने पर उत्पादन की टेक्नॉलॉजी के चलते कीमतें कम होती जाएंगी।

सवाल यह है कि क्या प्रयोगशाला में निर्मित मांस स्वीकार्य होगा? मुझे तो लगता है कि होगा। सबसे पहली बात तो यह है कि पेटा जैसे जंतु अधिकार संगठन इसे स्वीकार करते हैं और बढ़ावा देंगे। दूसरी बात है कि यह

जिनेटिक खाद्य पदार्थ नहीं है और इसमें किसी जिनेटिक फेरबदल का सहारा नहीं लिया गया है। और, आज चाहे यह मांस बेस्वाद हो मगर पोषण वैज्ञानिक जल्दी ही स्वाद को ठीक कर लेंगे।

आखरी सवाल यह है कि क्या इन *विट्रो* मांस अनेतिक या अप्राकृतिक है? देखा जाए, तो नहीं है। इन *विट्रो* मांस संगठन के डॉ. जेसन मेथनी का सवाल है: “क्या यह नैतिक या प्राकृतिक है कि 10000 मुर्गों को एक दड़बे में कैद किया जाए और वे अपने ही उत्सर्जन के बीच पलें और उन्हें तमाम दवाइयों की खुराक दी जाए?” कहते हैं कि मेथनी स्वयं वेगन बन गए थे और जब उनसे पूछा गया कि क्या वे आईवीएम का सेवन करेंगे, तो उनका जवाब था, “ज़रूर, यह मांस के बारे में मेरी सारी चिंताओं का जवाब देता है।”

मेरा तो ख्याल है कि महात्मा गांधी भी इसका अनुमोदन करते, हालांकि स्वयं इसे न खाते। मगर वर्तमान पर लौटते हुए, मैं सोचने लगता हूँ कि क्या मेनका गांधी और आमला अक्कीनेनी जैसे जंतु अधिकार हिमायती इसका अनुमोदन करेंगे। (*स्रोत फीचर्स*)

वर्ग पहली 78 का हल

त	ड़ि	त		पा		ल	ता
नु		र		मा	व	ठा	ज
	वि	ल	य	न		आ	म
	क			व	क्ष		ह
दू	र	बी	न		य	श	पा
र			र	स		णि	
सं	ख्या			मा	र	को	नी
चा		च	म	न		य	ढा
र	बी		न			ल	व
							क